विश्वेश्वरानन्द भारतभारती लेखमाला—५५
V. INDOLOGICAL PAPER SERIES—55

विश्वबन्धु :

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

वेदसार (शैक्षणिक संस्करण)

की

भूमिका का अनुमुद्रण

प्रकाशक—
विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान,
धु आश्रम, होशिआरपुर
१९६२
1962
मूल्य ०.७५ न. पै.

H
891.201
V 823 V
H
891.201
V823 V

Library IIAS, Shimla
H 891.201 V 823 V
00040554

40554
21.7.72

H
891.201
V 823 Y

भूमिका

वैदिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय

१. संस्कृत भाषा और साहित्य—

विश्व-मानवीय वाङ्मय के विशाल क्षेत्र में हम भारतीयों के संस्कृत वाङ्मय का, क्या इसकी प्राचीनता और क्या इसकी समृद्धि के कारण, अपना ही अनुपम स्थान और मान है। पूजा और पाठ हो, धर्म और कर्म हो, विचार और विमर्श हो, कथा और कहानी हो, काव्य और नाटक हो, नीति और उपदेश हो, विद्या और विज्ञान हो, कला और कौशल हो—संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत इन सभी के तथा और भी अनेक प्रकार के वर्णनार्ह वस्तुवर्गों के भरपूर भण्डार पाए जाते हैं। जिस सुदूरवर्ती अतीत युग में इस सुसम्पन्न, सुविकसित और सुमनोहर साहित्यिक सृष्टि का सर्वप्रथम सोता बह निकला, उस के उपरान्त अब तक, कौन जाने और कौन कहे, कितनी सहस्राब्दियाँ बीत चुकी हैं। किन्तु धन्य है इस अनादि-निधना सहस्र-धारा सरिता की सरसता कि अभी तक यह बराबर बही चली जाती है।

इसी बीच में, लगभग तीन सहस्र वर्ष पहिले से, संस्कृत-परिवार की ही उत्तरोत्तर प्रजास्वरूपिणी पाली-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के युग प्रवृत्त हो चुके हैं, जो क्रमशः अपने-अपने कतिपय भग्नावशेष पीछे छोड़ते हुए स्वयं प्रायः नामावशेष हो गए हैं। परन्तु कितने रोमांचकारी आश्चर्य की बात है कि इन्हीं तीन सहस्र वर्षों के सुदीर्घ समय में भी संस्कृत के सांस्कृतिक भण्डारों के अपने नये से नये गगनचुम्बी भवन भी, साथ के साथ, बराबर आज दिन तक खड़े होते चले आए हैं। इसके साथ ही, उक्त संस्कृत-कुलीय भाषाओं के अनेक रत्नागार भी धीरे-धीरे संस्कृत का ही रूप पुनः धारण करते हुए संस्कृत के विशाल भवन में ही समाविष्ट हो गए हैं।

संस्कृत का यह विशाल साहित्य युग-युग में भारतीयों के सर्व-विध

CATALOGUED

सांस्कृतिक उत्कर्षों और आदर्शों को मुकुरित करता हुआ चला आया है। साथ ही, यह उन्हीं महार्घ सांस्कृतिक मान्यताओं और प्रथाओं के आधार पर इस देश की विविध-भाषिणी, विविध-भोजिनी और विविध-वासिनी रहती हुई भी समूची जनता को भावनात्मक एकरूपता के स्थिर रंग में एक-रंग करता रहा है। वर्तमान एकराष्ट्रता के अति नवीन युग के आने से पूर्व यह महान् देश कभी-कभार ही एक-छत्री राष्ट्र बन पाता था। साधारणतः, यह छोटे-बड़े स्वतन्त्र राजतन्त्रों में बँटा ही रहता था। परन्तु ऐसा होते हुए भी संस्कृत को समूचे भारत का प्रधान साहित्यिक माध्यम होने का गौरव सदा ही प्राप्त रहा है। इसकी इसी व्यापक मान्यता के फल-स्वरूप ही कामाख्य से भुज-कच्छ और कन्याकुमारी से अमरनाथ तक का भारत अन्तःखण्डित होने पर भी एक अखण्ड भारत बना रहा है और इसके सभी प्रदेशों के निवासी समान-रूप से भारतीय बने रहे हैं।

प्राचीन समय में भारतीय लोग तिब्बत, मध्य-एशिया, मंगोलिया, कोरिया, जापान, चीन, सुमात्रा, जावा, बाली, मलय, वीतनाम, लाउस, कम्बोज, बर्मा, लंका, गन्धार, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी यूरुप तथा (अनेक विद्वानों के मतानुसार) अमरीका ऐसे दूर-दूर के विदेशों में पहुँच चुके थे, जहाँ वे प्रायः बस कर वहाँ-वहाँ की मूल जनता के साथ घुल-मिल गए। उन में से जो वैदिक अथवा श्रामणिक धर्मों में विशेषतः निष्ठावान् थे, वे अपने धर्म-ग्रन्थों को भी अपने साथ ले गए और उन्हीं के अभ्यास तथा प्रचार में लगे रहे। उन्होंने कृषि, वाणिज्य, प्रशासन आदि अन्य सर्वविध व्यवसायों में लीन हो रहे अपने शेष भारतीय बन्धुओं के अन्दर संस्कृत और पाली-प्राकृत साहित्यों के प्रति श्रद्धामयी ज्योति जागृत रखी। साथ ही, उन्हों ने वहाँ-वहाँ के अपने से पहले के निवासियों को भी भारत के प्राचीन ग्रन्थों के सदुपदेशों द्वारा बहुत प्रभावित किया। उसी के फल-स्वरूप बाहर के उक्त सभी विदेशों की भाषाओं एवं उनकी साहित्यिक प्रवृत्तिओं पर संस्कृत और पाली-प्राकृत की बहुत

गहरी छाप पड़ी जो आज तक स्थिर चली आई है । इस प्रकार संस्कृत-भाषा देश-विदेश की सभी भाषाओं के मध्य में अपने अनन्त गुण-वैभव के पुण्य प्रताप से उन की सार्वदेशिक और सार्वकालिक सम्राज्ञी के रूप में सुप्रतिष्ठित होकर युग-युग में शोभायमान होती रही है ।

२. वैदिक साहित्य—

संस्कृत साहित्य की श्री-वृद्धि के सर्व-प्रथम युग में वेदों का आविर्भाव हुआ । संसार के किसी भी देश-प्रदेश से किसी अन्य ऐसे नाम-ग्रहण के योग्य साहित्य का सू-पता नहीं मिलता, जिसे वैदिक साहित्य से अवश्य प्राचीनतर ही कहना चाहिए । वैदिक साहित्यिक प्रवृत्ति का सूत्रपात ठीक कहां और कब हुआ, यह विषय अभी तक विवाद-ग्रस्त ही चला आता है । किन्तु जैसा कि अब प्रायः माना जाता है, यह विशाल वाङ्मय मुख्यतः भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र की ही उपज है । इस की मूल सृष्टि आज से लग-भग ५००० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ हो कर लग-भग ३००० वर्ष पूर्व तक चलती रही । तत्-कालीन भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्र के साथ आज के पश्चिमी पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, रूसी व चीनी तुरकिस्तान और पूर्वोत्तरी ईरान का ज्ञातीय तथा सांस्कृतिक ऐक्य बहुत-कुच्छ बना रहा । अतः, इन दृष्टिओं से, उक्त सुविशाल क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत के साथ मिल कर एक अभिन्न देश सा बना हुआ था । काल-क्रम से उक्त वैदिक क्षेत्र का दक्षिण-पूर्व में भी, पहले, गंगा, गोमती तक और फिर कुच्छ और उधर आगे तक विस्तार हो गया था ।

३. ऋग्वेद—

आदिम वेदयुगीन धर्म-कर्म-निरत 'ऋषिओं' अर्थात् सन्त कविओं के मुख से उन के भक्ति-भाव-भरित, भावनोद्दीप्त हृदय की उपज-स्वरूप जो छन्दोमय 'मन्त्र' अर्थात् उद्गार निकले, उन्हें 'ऋचा' कहते थे । इस प्रकरण में पठित 'ऋचा' शब्द का संबन्ध 'स्तुति, पूजा, आराधना' को कहने वाले √अर्च् के सगोत्र √ऋच् से है और 'ऋषि' शब्द में

पाया जाने वाला √ऋप् भी इसी अर्थ को ही कहता है। एवं 'मन्त्र' शब्द √पण्, √पन्, √भण्, √मण् और √वण् के सगोत्र शब्दार्थक √मन् से निष्पन्न हुआ है। प्रचलित धातुपाठों में इन धातुओं के यह अर्थ नहीं मिलते।

मूलतः, ऋचाएँ मुक्तकों एवं सूक्तों के रूप में चिर काल तक प्रकट होती रहीं। धीरे-धीरे इन की संख्या अत्यधिक हो गई और इन सभी अस्त-व्यस्त हुए हुए काव्योद्गारों का स्मृति में स्थिर बना रहना बहुत कठिन हो गया। विस्मृति-वश इन का लोप भी होने लगा। इस कारण इन के पठन-पाठन और पारायण को उत्साहपूर्वक चलाने वाले संप्रदायविद् आचार्यों के हृदय में आशङ्का पैदा होने लगी कि ऋचाओं के इसी तरह से बराबर लुप्त होते चले जाने से कहीं पूर्व पुरखाओं के तीव्र तप का फल-स्वरूप यह परम्परोपलब्ध बहुमूल्य संप्रदाय विकल और विच्छिन्न न हो जाय। अतः उन्हों ने अपनी इस महार्घ पैतृक निधि की रक्षार्थ पूरा प्रयत्न किया। वे जहां-तहां जा-जा कर भिन्न-भिन्न संप्रदायविदों से मिले और जो भी ऐसी ऋचाएँ मिलीं, जो उन के अपने हां से लुप्त हो चुकीं थीं, उन सब को उन्हों ने कण्ठस्थ कर लिया। तब फिर उन्होंने अपने स्थान पर आ कर उन सब ऋचाओं के संपूर्ण पाठ के प्रचारार्थ उन को विशेष रूप से व्यवस्थित और क्रमबद्ध करते हुए ग्रथित अर्थात् संगृहीत कर लिया (तु. यास्कीय निरुक्त १,२०)। यही हमारा वह 'आदि ग्रन्थ' बना, जो 'वेद' के पवित्र नाम से युग-युगान्तर में प्रसिद्ध रहा है। यह 'वेद' शब्द योग और मिश्रण के वाचक 'वेध' शब्द तथा संगमन-वाचक 'मेध' शब्द का सगोत्र था, जिस कारण इस का प्राथमिक अर्थ 'संग्रह' मात्र था। यह पंजाबी शब्द 'बीड़' का पर्याय था। यह 'ऋचाओं का संग्रह' है, इस भाव को स्पष्टतर करने के अभिप्राय से इस का पूरा नाम कालान्तर में 'ऋग्वेद' प्रसिद्ध हुआ। इस का दूसरा नाम 'ऋक्-संहिता' भी है, जो इसी आशय को प्रकट करता है।

प्रचलित ऋग्वेद में १०५५२ ऋचाओं का संग्रह मिलता है, जो

१०२८ 'सूक्तों' में बंटी हुई हैं। इन में से कुल मिला कर ८० ऋचाओं के ११ सूक्त 'वालखिल्य' अर्थात् 'परिशिष्ट पाठ' के रूप में चले आते हैं। ये सब सूक्त १० मण्डलों में विभक्त हैं। छः मण्डलों (२-७) में से एक-एक का पृथक्-पृथक् मूल ऋषि और उस के वंशज ऋषिओं के साथ संबन्ध कहा जाता है। इस प्रकार, ये छः मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषिओं और उनके कुलों से संबन्धित चले आते हैं। उन्हीं से इन का प्रथम प्रकाश हुआ था, ऐसा समझा जाता है। ८वां मण्डल कण्व और अङ्गिरस् ऋषिओं के कुलों की मिली-जुली उपज है। १ला और १०वाँ मण्डल बहुत से ऋषि-कुलों की देन हैं। यही बात ९वें मण्डल के बारे में पाई जाती है। किन्तु इस की विशेषता यह है कि इस के सब सूक्तों का 'सोम' ही एक मात्र 'देवता' अर्थात् प्रधान रूप से स्तुति का विषय है। ऋग्वेद का एक दूसरा विभाग-प्रकार भी चलता रहा है, जिस के अनुसार यह आठ-आठ अध्यायों वाले आठ अष्टकों में बँट जाता है। विभाजन के इन दो प्रकारों में से मण्डलीय प्रकार ही प्राचीन ऋषि-परिवारों के इतिहास की दृष्टि से विशेषतः महत्त्व-युक्त कहा जा सकता है। इसी प्रकार को ही आधुनिक युग के विद्वानों ने विशेषतः अपनाया है।

'ऋचाओं' के गाने वाले 'ऋषि' पृथिवी से लेकर सूर्य पर्यन्त और उस से भी परे व्याप रही और रूप-रूप में प्रतिरूप हो कर बस रही महामहिम, मायामयी दैवी विश्व-शक्ति के उपासक थे। उसी परम तत्त्व की विश्व-भावना से उजागर हो पड़ी उनकी आर्ष दृष्टि में भूमि, जल,वायु, सूर्य आदि असंख्य पदार्थ साधारण भौतिक पदार्थ ही नहीं रह जाते थे। वे सभी 'देवता' अर्थात् उसी परात्-पर-रूपी 'एकं सत्' के सन्देश-वाहक प्रतीक और उसकी स्थूलरूपिणी भौतिक अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते थे। उन्हीं अनेक नामों वाले अग्नि, इन्द्र आदि 'देवताओं' का पूजामय, भावनामय, काव्यात्मक वर्णन

और गुण-गान 'ऋचाओं' का मुख्य विषय है। साथ ही, ऋचाओं के अंदर इन के 'ऋषिओं' के तत्वचिन्तन एवं नानाविध लौकिक और व्यावहारिक अनुभव के फलस्वरूप अनेक अन्य विषयों से संबन्धित उपदेशों और संकेतों का समावेश भी मिलता है। उक्त अग्न्यादि 'देवता' तथा तद्-भिन्न-प्रकारक सभी पदार्थान्तर, जिन का ऋचाएं बखान करती हैं, वे सब समान रूप से उन के 'देवता' अर्थात् 'स्तुत्य और प्रतिपाद्य विषय' कहे जाते थे। प्रकृत 'देवता' शब्द स्तुत्यर्थक √दिव् से निष्पन्न हुआ है, इस प्रकार से, गंभीर पारमार्थिक भावनाओं और विविध व्यावहारिक सूचनाओं का आदिम उद्गम होने के नाते, एक ओर, सजीवन की आध्यात्मिक प्रेरणा पाने के लिए और, दूसरी ओर, भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम युग के इतिहास की खोज करने के लिए ऋग्वेद का अत्यन्त महत्त्व है, जिसे सभी विचारक मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करते चले आते हैं।

ऋग्वेद आदि काव्य होता हुआ भी अपने ओजस्, प्रसाद और माधुर्य आदि गुणों तथा अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि नानाविध शब्दालंकारों एवम् अर्थालंकारों से ओत-प्रोत वर्णनों के कारण चोटी का उत्तम काव्य कहा जा सकता है। निदर्शन मात्र के लिए उत्तरोक्त कुच्छ उद्धरण देखने योग्य हैं—

मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं—चक्रये (१,९,२)
मा गामनागामदितिं वधिष्ट (८,१०,१५)
सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुः (१०,९१,३)
स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव (१,१,९)
अस्येद् भिया गिरयश्च दृढाः (१,६१,१४)
यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते (१,८,१)
वसूयवो वसुपते वसूनाम् (१०,७४,१)

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्ति,
अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः,
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ (१०,३४,९)

ऋग्वेद में संगृहीत सब ऋचाओं का निर्माण ऋषिओं की एक-दो पीढ़िओं का ही कार्य नहीं था। इसका कई शतिओं में विस्तार होता रहा होगा। इस लिए सूक्तों और, कई बार, ऋचाओं की भाषा में पुरानी और नई की दृष्टि से स्तरभेद पाया जाता है। १०वें मण्डल की भाषा विशेष रूप से कुच्छ नई होने से सरल लगती है। ऋषि लोग स्वयं अपने से पहले के ऋषिओं और उनकी कही पुरानी ऋचाओं का संकेत करते हैं (ऋ १,१,२;६,२४,२)। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से अनेक-युगीन होने एवं साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर और परिमार्जित होने के कारण ऋचाओं की भाषा जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा से बहुत भिन्न हो चुकी थी। औचथ्य दीर्घतमस् ऋषि को ऐसा लगता था कि यदि ऋचाओं की शब्दराशि के चार भाग कर लिए जाएँ, तो उनमें तीन भाग ऐसे बनते थे जो तत्कालीन साधारण अपठित जनता के लिए दुरूह हो चुके थे (ऋ १,१६४,४५)। ऋचाओं का ऋग्वेद के रूप में संग्रह होते-होते जनता की बोल-चाल की भाषा उन ऋचाओं की भाषा से व्याकरण और विशेषतः शब्दराशि की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न हो चुकी थी।

ऋग्वेद का जो एक मात्र पूरा संग्रह अब मिलता है, वह आचार्य शाकल्य के उपदेशानुसार सम्पन्न हुआ था और उनके 'कुल' में उस का ही पठन-पाठन चलता था। परन्तु वैदिक संस्कृति के पूर्वोक्त विशाल क्षेत्र में उस समय और भी अनेक 'कुल' चल रहे थे। उन के कुलपति आचार्यों ने भी अपने-अपने 'कुलों' में वेद-पाठ की अलग-अलग परम्पराएँ प्रमाणित

की हुई थीं। इस प्रकार, ऋग्वेद एक होता हुआ भी अनेक संग्रहों के रूप में प्रचरित था। इन विभिन्न संग्रहों की संख्या २१ बताई गई है।

इन संग्रहों में संकलित ऋचाओं तथा सूक्तों की संख्या और स्थिति के बारे में कहीं-कहीं कुछ-कुछ अन्तर पाया जाता था। उदाहरणतः, शांखायनीय ऋग्वेद में पूर्वोक्त ११ वालखिल्य सूक्त मूल में ही समाविष्ट होकर पढ़े जाते थे और दशम मण्डल के वर्तमान अन्तिम १९१वें सूक्त के उपरान्त १५ ऋचाओं का एक और १९२वां सूक्त बढ़ा कर पढ़ा जाता था। वाष्कलीय 'कुल' में भी इस १९२ वें सूक्त को इसी प्रकार पढ़ा जाता था। परन्तु उन के संग्रह में ११ वालखिल्य सूक्तों में से ७½ सूक्तों ही का पाठ मूल में समाविष्ट किया गया था। शतपथ ब्राह्मण (११,५,१,१०) में ऋग्वेद के एक और विभिन्न संग्रह का संकेत मिलता है, जिस में अब १८ ऋचाओं वाले के रूप में पाया जाने वाला उर्वशी-पुरूरवस् का सूक्त (१०, ९५) १५ ऋचाओं वाले रूप में पढ़ा जाता था।

इन विभिन्न पाठ-परम्पराओं का प्राचीन नाम 'शाखा' चला आता है। इस लिए जो पूर्वोक्त संग्रह अब प्रचलित है, उसे ऋग्वेद की 'शाकल-शाखा' कहते हैं। प्रसिद्ध वृक्षीय 'शाखा' शब्द के सामान प्रकृत 'शाखा' शब्द भी 'विटप' का ही पर्याय समझा जाता है। परन्तु यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। कारण, जिस प्रकार वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होने से 'शाखिन्' शब्द का वाच्य बनता हुआ भी, उन सभी शाखाओं के छेदन के पश्चात् उन से पृथक् सत्ता वाला वृक्ष-पदार्थ स्कन्ध के रूप में ज्यों का त्यों बना रहता है और स्वतन्त्र रूप से दृष्टि-गोचर होता है, इस प्रकार, अपनी पूर्वोक्त प्रकार की 'शाकली' आदि शाखाओं के अभाव में ऋग्वेद अन्य कोई पृथक् सत्तावान् पदार्थ पीछे बचा नहीं रहता। इतना ही नहीं, एक और विशेष अन्तर भी है। वृक्ष की प्रत्येक शाखा सदा शाखा मात्र ही रहती है, वह कभी भी पूरे वृक्ष की पदवी को प्राप्त नहीं कर पाती। परन्तु ऋग्वेद की पूर्वोक्त शाखाओं में से एक-एक 'शाखा' स्वयं, मानो,

अपने सहज अधिकार से, सम्पूर्ण ऋग्वेद के पद पर प्रतिष्ठित चली आती है। उस-उस 'कुल' वालों के लिए उस-उस 'शाखा' के अतिरिक्त कोई और 'ऋग्वेद' नाम वाला पदार्थ नहीं था। उस-उस 'कुल' के लोग यह अवश्य जानते थे कि उन से कुच्छ दूरी पर स्थित उस-उस दूसरे 'कुल' के लोग उस-उस विभिन्न ऋग्वेद-शाखा को पढ़ते हैं। परन्तु वे पहले 'कुल' के लोग उस-उस दूसरे 'कुल' द्वारा प्रमाणित ऋग्वेद-शाखा को अपने हाँ के लिए प्रामाणिक नहीं समझते थे। अतः वे न केवल उसका पाठ ही नहीं करते थे, वरन् उसके पाठ को अशुद्ध भी समझते और कहते थे।

ऊपरीय विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की पूर्वोक्त शाखाएँ वृक्ष की शाखाओं के समान नहीं थीं, प्रत्युत उसी के अपने समूचे संगृहीत पाठ के विभिन्न सर्वथा समकक्ष रूप थीं। वस्तुतः ये दोनों 'शाखा' शब्द एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। निर्वचन की दृष्टि से इन दोनों का अपना-अपना अलग ही इतिहास था। प्रकृत 'शाखा' शब्द का मूल 'उपदेश' अर्थात् 'पाठ' अर्थ वाले √ *श (शा) क् (ख्) से था, जिसके √श (शँ) स् और √शा (शि) स् (ष्) रूपान्तर मात्र थे। संस्कृत के प्रचलित 'धातुपाठों' में इस धातु का निर्देश नहीं मिलता। किन्तु ऋग्वेद (७,१०३, ५) के अध्यापक-वाचक 'शाक्त' शब्द से इसकी प्राचीनतर विद्यमानता प्रमाणित होती है। 'शक्करी', 'शक्यार्थ', 'शब्द-शक्ति' आदि प्रचलित प्रयोग भी मूलतः वचनरूपी अभिप्रेत अर्थ को सीधा कहने वाले इसी धातु के ज्ञापक हैं। वाग्-वाचक 'शची' (निघण्टु १,११) का √शच्, अर्चन-वाचक 'शशमान' (निघण्टु ३,१४) का √शश्, ऋग्वेद (१०,७१) के 'सखि' का √सख्, पंजाबी के वृत्तान्त-पर्याय 'साखी' शब्द का √स (सा) ख् और प्रसिद्ध वाङ्मय-वाचक 'साहित्य' शब्द का √सा (ख् >)ह् भी उक्त धातु के ही सगोत्र हैं।

प्रकृत 'शाखा' शब्द का ही पर्यायभूत 'चरण' शब्द भी था। इसमें पाया जाने वाला √चर्, 'शब्द' अर्थात् 'पठन-पाठन' का वाचक था। इस

धातु का यह अर्थ धातुपाठ में नहीं मिलता। इसी √चर् से 'आचार्य' और 'उच्चारण' शब्दों की निष्पत्ति हुई थी। यह धातु 'गति' और 'भक्षण' अर्थ वाले √ चर् से भिन्न ही था।

४. यजुर्वेद—

भारतीय साहित्य के जिस आदिम युग में वैदिक 'देवताओं' के स्तोत्रों के रूप में 'ऋचाओं' का आविर्भाव और विकास हुआ, उसी में उस से भी कहीं अधिक प्राचीन युग से चली आ रही यज्ञरूपी पूजा-प्रणाली का और भी विशेष रूप से विकास हुआ। ऋग्वेद में अतीव प्रचुरता से उपलब्ध हो रहा देवपूजा-वाचक √यज् से निष्पन्न तिङन्त और कृदन्त पदों का प्रयोग इसी स्थिति की सूचना देता है। सहस्रों ऋचाएँ ऐसी हैं, जिन्हें समझने के लिए उनकी याज्ञिक पृष्ठभूमी का समझना अत्यावश्यक है। जिन 'ऋषिकुलों' से उद्गत होकर ऋचाओं की ध्वनियां आकाश में गूंजी थीं, वहीं से याज्ञिक प्रथाओं का भी विस्तार हुआ। परन्तु इस का यह आशय नहीं है कि सब की सब ऋचाएँ साक्षात् क्रियमाण यज्ञ-कर्म के साथ-साथ उच्चारण करते जाने के लिए ही रची गई हों। जैसे वर्तमान युग के सन्त कवियों ने कृष्ण-लीला और राधा, मुरली आदि उस के कई-एक उपकरणों की तथा प्रेममार्गी कवियों ने मधुशाला, साकी और प्याले की पृष्ठभूमी का पदे-पदे आश्रय लेकर और, मानो, उस से नित्य नई प्रेरणा और उत्तेजना पाकर विशुद्ध भक्ति और वेदान्त के गीत गाए हैं, वैसे ही वैदिक ऋषियों ने भी अपनी अतीव परिचित याज्ञिक पदावली का प्रायः इसी प्रकार से आलंकारिक उपाश्रय ही लिया था, ऐसा प्रतीत होता है। हां, हो सकता है कि पीछे आकर कुच्छ ऋचाएँ साक्षात् यज्ञ-कर्म में पढ़ने के उद्देश्य से भी रची गई हों।

पद्यात्मक मंत्र अर्थात् ऋचाएँ कहने वाले ऋषियों ने स्वयम् अथवा उन के 'कुलों' के अन्य ऋषियों ने अवश्य भिन्न प्रकार के ऐसे गद्यात्मक मन्त्र भी कहे थे, जो यज्ञ-कर्म के साथ-साथ ही बोले जाने वाले थे। ऐसे मन्त्रों का नाम

'यजुस्' रखा गया था। इन्हें साक्षात् यज्ञ-कर्म के मन्त्र कह सकते हैं। इन की रचना का काल ऋचाओं की रचना के साथ-साथ समानान्तर रूप से चलता रहा प्रतीत होता है। तभी तो ऋग्वेद (१०,९०,९)में इन की ओर स्पष्ट रूप से किया गया संकेत मिलता है।

यज्ञ-कर्म में गद्यात्मक यजुओं के साथ-साथ बोले जाने के लिए जो ऋचाएँ विनियुक्त अर्थात् आचार्यों द्वारा नियत की जाती रहीं, उन के भिन्न-भिन्न यज्ञकर्मों के प्रकरणानुसार 'पुरोनुवाक्या' अर्थात् 'आहुति-कर्म की अवतरणिका के रूप में पढ़ी जाने वाली', 'याज्या' अर्थात् 'साक्षात् आहुतिकर्म कराने वाली' आदि विभिन्न नाम पड़ गये थे।

उन के अन्दर यज्ञकर्म के आगे-पीछे तथा बीच-बीच में अनेक अन्तर हुआ करते थे। आचार्य लोग किए जा रहे यज्ञ-कर्मों और उनके निमित्त पढ़े जाने वाले पद्यात्मक एवं गद्यात्मक मत्रों के स्पष्टीकरण के लिए उन के कई प्रकार के व्याख्यान कर दिया करते थे। उन गद्यमय प्रवचनों को मन्त्र और यज्ञकर्म, दोनों, के व्याख्यान-स्वरूप 'बृंहण' अर्थात् विस्तार होने के कारण 'ब्राह्मण' कहते थे।

जब समय पाकर यज्ञकर्म-संबन्धी पूर्वोक्त दोनों प्रकार के अर्थात् पद्यात्मक तथा गद्यात्मक मंत्रों और उन के याज्ञिक प्रकरण से संगत व्याख्यानात्मक 'ब्राह्मणों' की संख्या बहुत बढ़ गई, तो उन को कण्ठस्थ रखने के सौकर्य के लिए उन का संग्रह कर लिया गया। उन का नाम 'यजुर्वेद' हुआ। जैसा विभिन्न ऋषि-कुलों ने अपनी-अपनी पाठ-परम्परा के अनुसार अपना-अपना ऋग्वेद संकलित किया था, उसी प्रकार उन्हों ने अपनी-अपनी याज्ञिक परम्परा के अनुसार अपना-अपना यजुर्वेद भी संकलित किया।

यजुर्वेद के इन आदिम विभिन्न संग्रहों में मंत्रों के साथ ब्राह्मण-पाठों का भी संमिश्रण पाया जाता था। पीछे आकर वाजसनेय परिवार के ऋषि-कुलों ने ऐसे यजुर्वेद संकलित किए जिन में केवल मंत्र ही रखे

गए, ब्राह्मणांश नहीं। इन दोनों प्रकार की याजुष 'शाखाओं' की संख्या सामान्यतः १०१ बताई गई है, परन्तु 'चरणव्यूह' में ८६ कही गई है। इस समय पूर्व वर्ग की तैत्तिरीय, मैत्रायण, काठक और कपिष्ठल 'शाखाएँ' एवं उत्तर वर्ग की माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाएँ मिलती हैं।

यजुर्वेद के इन दो प्रकार के संग्रहों में विवेक करने के लिए पूर्ववर्ती संग्रहों को 'कृष्ण' अर्थात् संमिश्रित कहा गया। इस 'कृष्ण' शब्द की व्युत्पत्ति खिचड़ी-वाचक 'कृशर' और 'कृसर' शब्दों में पाए जाने वाले मिश्रणार्थक √कृश् और √कृस् के सगोत्र √कृष् से कहनी चाहिए। यहां काले वर्ण के साथ इस धातु का संबन्ध नहीं है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती संग्रहों को ब्राह्मणांशों से विमुक्त कर दिए जाने के कारण उन्हें 'शुक्ल' अर्थात् 'परिशोधित, परिपूत' कहा गया। यहां इस शब्द का 'श्वेत' वर्ण से संबन्ध नहीं है।

५. सामवेद—

वेदयुगीन समग्र वाणी अपने सहज स्वरूप से गान-प्रवण प्रवृत्ति वाली थी। उसका एक-एक अक्षर वाचनिक उतार-चढ़ाव की श्रृङ्खला में बन्धा हुआ उच्चरित होता था। पद्यात्मक ऋचाओं के पाठों में यह विविक्तस्वरमयी प्रवृत्ति और अधिक विस्पष्ट हो जाती थी। परन्तु वैदिक भक्तों और सन्तों का अन्तरात्मा इस साधारण वेद-पाठ मात्र से संतुष्ट नहीं हो सकता था। वे ऋचाओं के स्वर-सहित पढ़ने मात्र में न लगे रहकर, अपनी फुरनी के अनुसार नाना-विध आलापों और रागों में उनके गाने के अभ्यास में निरत हुए। उनके उस सुदीर्घकालीन अभ्यास के फलस्वरूप विभिन्न सांगीतिक ताल-स्वरों में ढाल-ढाल कर गाई जाने वाली ऋचाओं के योगों का 'सामन्' नाम पड़ा, जो मूलतः (प्र√स्वृ *'मधुरालापे' >) *प्रस्वार्मन् से परिणत हुआ लगता है (तु. ऋ ८,१२,२२)। विभिन्न 'कुलों' के संगीताचार्य ऋषिओं ने काल-क्रम से इन सामों के अपने-अपने संग्रह बनाए, जो साम-गान की उस-उस

शाखा के रूप में प्रचरित और प्रसिद्ध हुए। सामगानों की इन शाखाओं की संख्या १००० बताई गई है। इस का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि उस युग में संगीत का बहुत अधिक विकास हो चुका था। ऋग्वेद में तत्कालीन सामगान के प्रचुर प्रचार के पर्याप्त संकेत पाए जाते हैं (तु. १,६२,२;१६४,२४ प्रभृ.)।

पूर्वोक्त प्रकार से ऋचाओं के आधार पर सामों का विकास संपन्न हुआ था। इस संबंध में जिन-जिन ऋचाओं का विशेष रूप से उपयोग किया गया था, उन-उन ऋचाओं के संग्रह का नाम ही सामवेद पड़ा था। विभिन्न ऋषि-कुलों ने अपने-अपने हाँ सामगानार्थ उपयोगार्ह ऋचाओं के अलग-अलग संग्रह बनाए थे, जो सामवेद की विभिन्न शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं। 'सामतर्पणविधि' के अनुसार ये शाखाएँ राणायन प्रभृति १२ सामगानाचार्य ऋषिओं ने पृथक्-पृथक् चालू की थीं। इन १२ शाखाओं में से इस समय कौथुमी और जैमिनीय शाखाएँ ही मिलती हैं। राणायनीय और कौथुमी शाखाओं में समान ऋचाओं का ही संग्रह किया गया था, परन्तु उनकी गणना-पद्धतिओं में कुच्छ-कुच्छ अन्तर था। कौथुमी और राणायनीय संग्रह में संगृहीत कुल ऋचाएँ १८७५ हैं, जिन में से १०५ ऐसी हैं, जो ऋग्वेद की अब एकमात्र उपलभ्य शाकल शाखा में नहीं मिलतीं। अवश्य ये १०५ ऋचाएँ भी ऋग्वेद की ही किसी अन्य अब लुप्त हो चुकी शाखा से ली गई होंगी।

६. अथर्ववेद—

ऋचाओं को कहने वाले ऋषि-वर्ग में दो प्रकार की प्रवृत्तिओं वाले कवि सम्मिलित रहे। प्रथम, आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले जो दैवी आराधना, आत्मोद्बोधना और ज्ञानोद्भावना में निरत रहते और मुख्य रूप से उन्हीं विषयों के मन्त्र कहते थे। दूसरे, लोक-संग्रही प्रवृत्ति वाले जो पौरोहित्य और वैद्यक के अभ्यास द्वारा समाज का नेतृत्व करते हुए

40554

अपनी एवं अपने यजमानों की सुख-सम्पत्ति की वृद्धि और दुःख-दुर्गति की निवृत्ति के लिए उद्‌युक्त रहते थे। ऋग्वेद में मुख्य रूप से वे मन्त्र संगृहीत हुए जो ऋषियों की प्रथम अर्थात् अध्यात्मिक प्रवृत्ति की उपज थे। पूर्वोक्त प्रकार से इसी ऋक्-संग्रह के उपसंग्रह के रूप में सामवेद विकसित हुआ। पौरोहित्य-पर मन्त्रों में से जिन का तत्कालीन याज्ञिक संस्था के पृष्ठवंश-स्वरूप हविर्यज्ञों, पाकयज्ञों और सोमयज्ञों से विशेष संबन्ध पड़ता था, उनका मुख्य संग्रह यजुर्वेद में हुआ। ऋषि लोग तत्-कालीन सामान्य विश्वास के आधार पर, जिन अपने सिद्ध किए हुए मन्त्रों के माध्यम से, साथ में ओषधियों, मणियों (गट्टों) और अभिचार-कर्मों (जादू-टूणा) का उपयोग करते हुए, अपनी और अपने यजमानों की मंगलवृद्धि और असंगल-बाधा और अपने एवं अपने यजमानों के शत्रुओं की मंगल-बाधा और अमंगल-वृद्धि सम्पन्न करते थे, उनका संग्रह, मुख्यतः, अथर्ववेद के नाम से और, साथ में, अथर्वाङ्गिरोवेद, भृग्वङ्गिरोवेद, अङ्गिरोवेद, भैषज्यवेद, ब्रह्मवेद और क्षत्रवेद के नामों से भी प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं और इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों का पीछे आकर यन्त्र (जंत्र) और तन्त्र नाम पड़ा। भारतीय जन्त्र-मन्त्र और तन्त्र के इस प्राचीनतम संग्रह-स्वरूप अथर्ववेद से ही उत्तरकालीन आयुर्वेद और तन्त्रशास्त्र का विकास हुआ। प्राचीन समय में अथर्ववेद की नौ शाखाओं का प्रचार बताया जाता है। उन में से दो अर्थात् शौनक और पैप्पलाद शाखाएँ ही अब उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद के उक्त प्रकार के सभी विषय ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी विद्यमान हैं। परन्तु वहां ये बहुत कम मात्रा में पाए जाते हैं। ऋग्वेद (१०,७१,११) से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि ऋग्वेदी, सामवेदी, यजुर्वेदी और अथर्ववेदी विद्वान् मिल कर ही यज्ञों को सम्पन्न कर पाते थे। उन में से ऋग्वेदी 'होता' कहाता था, सामवेदी 'उद्‌गाता', यजुर्वेदी 'अध्वर्यु' और अथर्ववेदी 'ब्रह्मा'। वे सब समान रूप से ऋत्विज् कहाते

थे। उन में से ब्रह्मा तभी बोलता था जब उसे उपस्थित या आशङ्कित किसी विघ्न-बाधा को अपने विशेष मन्त्र-बल से बांध डालना या छिन्न-भिन्न कर देना होता था। उसकी इसी विद्या को ऋग्वेद के उक्त मन्त्र में "जात" नाम दिया गया है। इसे ही आज कल 'झाड़ा' या 'झाड़' करना कहा जाता है। ऋग्वेद (१०,६०,६) में जो 'छन्दस्' शब्द पढ़ा गया है, वह आथर्वणिक मन्त्रों का ही वाचक प्रतीत होता है। वहां पर इन मन्त्रों को अन्य सब मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं, यजुओं और सामों के साथ समकक्ष कहा गया है। अथर्ववेद (१०,७,२०) में भी यही भाव प्रकट किया गया है।

अथर्ववेद मुख्यतः अथर्वन्, भृगु और अङ्गिरस् के तीन ऋषिकुलों की देन है। इन तीनों ऋषिओं की ऋग्वेद में भी बड़ी महिमा कही गई है। ऋग्वेद और अथर्ववेद का शेष आर्ष सम्प्रदाय भी प्रायः समान ही है। इस लिए आरम्भ में अथर्ववेद की मान्यता दूसरे तीनों वेदों के समान ही थी। रचना की दृष्टि से अथर्ववेद के मंत्र अत्यधिक अंश में ऋचाओं और अत्यल्प अंश में यजुओं के रूप में ही प्रकट हुए हैं। इस कारण यद्यपि वेद चार हैं, तथापि उनमें पढ़े गए मन्त्रों के तीन ही प्रकार रहे हैं, अर्थात् ऋच्, यजुस् और सामन्। ऋग्-यजुः-साम-लक्षणक (मनु १, २३) त्रिवर्गता के आधार पर ही वेद-चतुष्टय की 'त्रयी विद्या' के नाम से प्रसिद्धि हुई (शत्रा ४,६,७,१)। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पहले तीन वेद ही थे और अथर्ववेद पीछे का है।

परन्तु पीछे आकर, प्रतीत होता है, अथर्ववेदिओं की जादू-टूणा आदि घोर अभिचारकर्मों में विशेष प्रवृत्ति के कारण दूसरे लोग उनसे भयभीत और आशङ्कित रहने और अथर्ववेद के प्रति उपेक्षा करने लगे थे। इसी कारण, और पीछे आकर, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ही प्रामाणिक हैं, अर्थवेद की मान्यता उन की अपेक्षा कम है, ऐसी धारणा बन गई थी। संभवतः, जनता की इस

उपेक्षामयी धारणा का प्रतीकार करने के लिए ही मूलतः १८ काण्डों वाले अथर्ववेद का पुनः संस्करण किया गया। उसके फल-स्वरूप पहले ऋग्वेद से बहुत-कुछ मिलता-जुलता १९वाँ काण्ड बढ़ाया गया और फिर २० वाँ काण्ड और जोड़ दिया गया, जिस में साक्षात् ऋग्वेद के ही सूक्त उठा कर रख लिए गए। साथ ही, पहले के १८ काण्डों के अन्दर भी अनेक तात्त्विक, आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों का पर्याप्त भाग प्रभावशाली प्रकार से मिला दिया गया। इस तरह से अथर्ववेद का वेद-युग के समग्र ज्ञान के प्रतिनिधि संग्रह के रूप में विकास हुआ।

७. ब्राह्मण—

ऊपर कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय आदि संहिताओं के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उन ग्रंथों में मूल मन्त्रों अर्थात् ऋचाओं और यजुओं के साथ कर्मकाण्डीय व्याख्यान-स्वरूप ब्राह्मण-संज्ञक गद्यात्मक भाग का भी संमिश्रण पाया जाता है। ऐसा लगता है कि शाखान्तरीय ऋषियों में से सर्व-प्रथम शुक्ल यजुर्वेदी वाजसनेयी आदिकों को ही अपनी-अपनी शाखा के पृथक्-पृथक् ब्राह्मण ग्रंथों की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। तदुपरान्त उन्होंने अवश्य इस ओर भरसक प्रयत्न किया होगा, जिसका सूचक 'शतपथ' ब्राह्मण है जो ब्राह्मण ग्रंथों में श्रेष्ठ समझा जाता है। इस ग्रन्थ से प्रतिस्पर्धित-से होकर ही तैत्तिरीय शाखा वालों ने 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' नामक अपने पृथक् ब्राह्मण ग्रंथ की भी रचना की। कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेदों की अन्य शाखा वालों ने भी सम्भवतः अपने-अपने ब्राह्मण ग्रंथ बनाए होंगे। उन में से केवल शुक्लयजुर्वेदी काण्व और माध्यन्दिन, इन दो शाखाओं के समान नाम वाले और कुछ ही अंशों में एक-दूसरे से विभिन्न दो 'शतपथ' ब्राह्मण मिलते हैं।

आरम्भ में, बहुत समय तक ऋग्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदी ऋषियों को अपने-अपने ब्राह्मण ग्रंथ बनाने की विशेष अपेक्षा प्रतीत नहीं हुई होगी।

कारण, सभी बड़े-बड़े यज्ञों को वे आपस में मिल कर ही सम्पन्न करते थे। जैसा ऋग्वेद (१०,७१,११) में कहा है, होता ऋचाओं को पढ़ता था, उद्‌गाता सामों को गाता था, अध्वर्यु यजुओं को पढ़ता और कर्म-विधि को सम्पन्न करता-कराता था और ब्रह्मा आथर्वणिक जंत्रों-मंत्रों द्वारा विघ्न-विनाश करता रहता था। सम्भवतः, पहले अनेक ऐसे ऋषि रहे होंगे, जिन्हें अपने वेद के साथ ही एक, दो या तीनों अन्य वेद भी उपस्थित थे। हो सकता है, आजकल के प्रचलित द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी शब्द उसी प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करते हों। धीरे-धीरे समय आया होगा जब परिमित शक्ति और ईर्ष्या आदि के कारण 'स्वाध्याय' अर्थात् अपनी-अपनी शाखा मात्र के पठन-पाठन तक ही वेद-पाठ सीमित होता गया होगा। उसी युग में ऋग्वेदी, सामवेदी और अथर्ववेदी ऋषि-कुलों ने कर्मकाण्ड के सम्पादन में अपनी-अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने और उसके द्वारा अपने-अपने यजमान-वर्ग को अपने-अपने वशीभूत किए रहने के भाव से अपने-अपने ब्राह्मण ग्रंथ अलग बनाए होंगे। उन वैदिक ऋषियों के चलाए विभिन्न कुलों की ऐसी प्रवृत्ति में ही, प्रतीत होता है, वह विषैला बीज निहित था जिस ने उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ती गई जाति-पाँति की भेद-भावना के घिनौने रूप में पनप-पनप कर सहस्रों वर्षों से एक भारतीय को दूसरे भारतीय से रोटी-बेटी के आपस के सामाजिक व्यवहार की दृष्टि से विच्छिन्न रखते हुए राष्ट्रीय और मानवीय भावनात्मक एकता की स्थापना के मार्ग में अत्यन्त दुष्पार पहाड़ खड़ा कर रखा है।

इस समय यजुर्वेद के उक्त दोनों शतपथों और तैत्तिरीय ब्राह्मण के अतिरिक्त ऋग्वेद के ऐतरेय और कौषीतकि (अथवा) शांखायन ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य, जैमिनीय, जैमिनीय (अथवा) तलवकार उपनिषद्, दैवत, षड्‌विंश, सामविधान, संहितोपनिषद् तथा आर्षेय ब्राह्मण एवं अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिलते हैं।

८. आरण्यक—

ब्राह्मण ग्रंथों की रचना यज्ञों के विधान और विवरण स्पष्ट रूप से देने के लिए हुई। अतः, विधि और अर्थवाद ही उनके स्वरूप के मुख्य अंग रहे। परन्तु उन के बनाने वाले ऋषि लोग याज्ञिक मात्र न थे, विचारक भी थे। वे विभिन्न याज्ञिक कर्मों के तात्त्विक और औपचारिक भावों की गवेषणा भी किया करते थे। यही यज्ञक्षेत्रीय ज्ञान-विज्ञान की चर्चाएँ 'आरण्यक' कहलाने वाले ग्रंथों का मुख्य विषय है। ऐसी चर्चाएँ ऋषिओं के आश्रमों तथा यज्ञ-मण्डपों के भीतर चलती रहती थीं, कहीं बसती से दूर जंगल में अवश्य जा कर ही नहीं, जैसा कि 'आरण्यक' शब्द को भ्रान्ति-वश 'अरण्य' शब्द से व्युत्पन्न मान कर प्रायः समझा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'तात्पर्य' के पर्यायभूत 'अर्थ' शब्द का एक प्रादेशिक उच्चारण '*अर्ध' के रूप में भी होता था। उस 'अर्ध' शब्द का ही एक दूसरा स्वार्थिक सगोत्र शब्द था '*अर्ध्मन्', जिस से 'अर्ध्मन्य' के माध्यम से '*अर्ध्मन्यक' का उद्गम हुआ, जो 'आरण्यक' के रूप में विपरिणत होता हुआ ऋषिओं द्वारा की गई उक्त प्रकार की तात्पर्यार्थ-चिन्तनाओं के संग्रह-स्वरूप इन ग्रंथों का नाम पड़ गया॥।

आरम्भ में ये आरण्यक ग्रंथ ब्राह्मण ग्रंथों के साथ उनके अन्तिम भागों के रूप में जुड़े रहते थे। शुक्ल यजुर्वेदिओं का 'बृहदारण्यक' अभी तक उनके शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अर्थात् १४वें काण्ड के रूप में ही पाया जाता है। धीरे-धीरे ऐसा लगने लगा कि इन ग्रंथों का विचारात्मक

॥सामवेद के पूर्वार्चिक के अन्त में एक परिशिष्ट है जो 'आरण्य-कांड' कहलाता है। यह 'आरण्य' शब्द √ऋध् '*बन्धने' से बने '*अर्ध्मन्' शब्द का तद्धित रूप है। जंगल का वाचक 'अरण्य' शब्द का मूल √ऋध् 'वृद्धौ' से बने एक तीसरे '*अर्ध्मन्' शब्द में है।

विषय ब्राह्मण ग्रंथों के कर्मकाण्ड-स्वरूप मुख्य विषय से ठीक मेल नहीं खाता। परिणामतः, इन का पृथक् ग्रंथों के रूप में विकास होने लगा। तैत्तिरीय यजुर्वेदियों का तैत्तिरीयारण्यक और ऋग्वेदियों के ऐतरेयारण्यक और शांखायनारण्यक इस प्रकार के पृथक् ग्रंथों के रूप में इस समय उपलब्ध होते हैं। अन्य शाखाओं के आरण्यक ग्रंथ भी प्रचलित हुए थे। प्राचीन साहित्य में उन के सम्बन्ध में कहीं-कहीं संकेत पाए जाते हैं। सम्भवतः, वे सब अब लुप्त हो चुके हैं।

९. उपनिषद्—

ऊपर कहा जा चुका है कि ऋषियों के कहे मूल-मन्त्रों की सृष्टि पहले से चली आ रही याज्ञिक पृष्ठभूमी के उपाश्रय से हुई थी और अनेक मन्त्र ऐसे भी कहे गए थे जो साक्षात् यज्ञ-परक ही थे। मन्त्रों में यत्र-तत्र याज्ञिक विचार और उपचार भी पाए जाते थे। इन्हीं के आधार पर याज्ञिक कर्म-कलाप के विहित प्रवर्तन और स्वरूप-विवरण के निमित्त ब्राह्मण ग्रंथों का और मन्त्र-संकेतित याज्ञिक विचार के और अधिक विस्तार के निमित्त आरण्यक ग्रंथों का विकास हुआ। जैसा कि पहले कहा गया है, मंत्रों में उक्त याज्ञिक प्रकरणों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकरण भी उपनिबद्ध हुए थे। उन प्रकरणों के कितने ही स्थलों में इस रहस्यमय संसार के सम्बन्ध में परम सूक्ष्म तत्त्व-विवेचन के अति गम्भीर संकेत मिलते हैं*। कई-एक अंशों में, इन संकेतों के विचारों की उड़ान से बढ़ी हुई उड़ान विचार-क्षेत्र में अब तक भी नहीं लगाई जा सकी। परन्तु, पीछे आ कर, कर्मकाण्ड की प्रधानता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण ऐसा लगने लगा कि, मानो, ब्राह्मणों की ही भाँति मूल मंत्रों में भी

---

*जैसे, देखें ऋ १, ६३,४;१६४,६;४६; ३,५४,५;८; ८,५८,२; १०,८२,६;७;१२६, १—७; अ १०,२,१४;७,२१;८,६;११; २८;२६; य. ३२,१;८;६;४०,४;५.

कर्मकाण्ड की ही मुख्यता है और उनका उसी की निष्पत्ति में परम तात्पर्य है। परन्तु वास्तव में स्थिति यह थी कि कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड की दोनों ही धाराएँ बहुत पहले से समानान्तर होकर चलती आती थीं। इनमें से कर्मकाण्ड की धारा जैसे ब्राह्मण-ग्रंथों के रूप में विवृद्ध हुई, वैसे ही ज्ञानकाण्ड की धारा भी उपनिषद्-नामक ग्रंथों के रूप में विस्तृत हुई। इसी कारण उपनिषत्-साहित्य को 'वेदान्त' अर्थात् 'वेद-मत' भी कहा गया। इस शब्द में तथा 'कृतान्त', 'राद्धान्त' और 'सिद्धान्त' शब्दों में उत्तरपद के रूप में पढ़ा गया 'अन्त' शब्द मन्तव्य-वाचक 'अर्थ' शब्द का सगोत्र पर्याय समझना चाहिए, 'अवसान' या 'समाप्ति' का वाचक नहीं। उपनिषदों में जो कहीं-कहीं कर्मकाण्ड की हीनता कही है, उसका भी बीज साक्षात् संहिताओं के मंत्रों में मिलता है। अतः, उपनिषदों के ऐसे वचनों को उनके द्वारा कर्मकाण्ड के विरुद्ध उठाए गए किसी सर्वथा नवीन सांप्रदायिक आन्दोलन के संकेत कहना अनावश्यक है। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि उपनिषदों में जहाँ सामान्यतः ऐहिक और आमुष्मिक, दोनों ही प्रकार के सुखों से उदासीन मोक्ष-मार्ग का उपदेश पाया जाता है, वहाँ मोक्ष-पद की प्राप्ति के साधन के रूप में यज्ञादि कर्मों के त्याग का नहीं, प्रत्युत उनसे प्राप्य फलों की आसक्ति के त्याग का ही प्रायः निर्देश किया गया है। कहीं-कहीं यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा भी की है। ईशोपनिषद् (मं.२) में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि कर्म-निरत रहते हुए ही मनुष्य मोक्ष लाभ कर सकता है। अतः, यही कहते बनता है कि उपनिषदों में कर्म-सापेक्ष एवं कर्म-निरपेक्ष, दोनों ही प्रकार के मोक्ष-मार्ग के संकेत मिलते हैं। इन में से प्रथम प्रकार के साथ उत्तरकालीन गृहस्थ 'सन्त-मत' की और द्वितीय प्रकार के साथ श्रामणिक और वैदिक, दोनों, संन्यास-धर्मों की परम्पराएँ मेल खाती हैं। इस प्रकार, वर्तमान हिन्दु, बौद्ध और जैन धर्म, तीनों ही, ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से उपनिषत्-सेतु द्वारा वेदों से जा जुड़ते हैं।

इन ग्रंथों में ईश् , तत्, सत्, एक, आत्मन्, ब्रह्मन्, भूमन् आदि अनेक नामों द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व-चिन्तन करते हुए जगद्-माया के अनिर्वचनीय मूल का संकेतात्मक होता हुआ भी यथाशक्य अति सुन्दर, सजीव और प्रेरणात्मक प्रतिपादन किया गया है। इन ग्रंथों में 'उप' अर्थात् 'परमतत्त्व-विषयक उच्चतम' 'निषद्' अर्थात् 'निरुक्ति' पाए जाने से ही इन्हें यह नाम मिला होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इसी लिए 'नि√सद्' के धातु-भाग का शब्दार्थक '√कथ्' का सगोत्र होना सम्भावित है (तु. अ १९, ४१,१; केउ ४,७; यास्क ३,१२; पा ४,२,७२;४,१२)।

इस समय लगभग २०० उपनिषदें पाई जाती हैं। इन में से ईश् , केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि और महानारायण प्राचीन वैदिक सम्प्रदायों के अन्तर्गत कही जाती हैं, जो, संभवतः, महात्मा बुद्ध से पूर्ववर्ती युगों में प्रसिद्ध हुई थीं। शेष उपनिषदें अर्वाचीन वैष्णव, शैव, शाक्त, योग, वेदान्त और अन्य सामान्य या संमिश्र संप्रदायों के अन्तर्गत पीछे आकर प्रचलित हुईं। इन में से कोई-कोई तो अत्यन्त नवीन हैं। जैसे, पिण्डब्राह्मण्डोपनिषद्, जिसे स्वामी केशवानन्द ने चालू शताब्दी के प्रारम्भ में ही रचा था। सभी उपनिषदों में, चाहे वे प्राचीन हों और चाहे नवीन, पूर्वोक्त प्रकार से, वैदिक बीज से साक्षात् अथवा परम्परागत क्रम से विरूढ हो कर पनपा अध्यात्म-प्रधान मोक्ष-मार्ग का उपदेश ही सामान्यतः प्रतिपादित है।

१०. श्रुति और स्मृति—

वैदिक वाङ्मय के घटक-स्वरूप संहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ और उपनिषद्-ग्रन्थ, सभी मिल कर 'श्रुति' अर्थात् 'मूल वचन' कहे जाते हैं। इस संदर्भ में √श्रृ (श्रु) को शब्दार्थक √स्वृ और √कृ का

पर्याय समझना चाहिए। इसे 'श्रवण' के अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यद्यपि संहिताओं के मन्त्र ही वस्तुतः 'मूल वचन' थे, तथापि प्राचीनतम ऋषियों द्वारा किए गए उन के व्याख्यान-स्वरूप ही होने के कारण वैदिक साहित्य के ब्राह्मणादि शेष भाग भी गौणरूप से 'वेद' और 'श्रुति' इन दोनों ही नामों से प्रसिद्ध हुए। 'श्रुति' का तात्पर्य-चिन्तन करते हुए उत्तर-कालीन ऋषियों और आचार्यों ने अनेक विचारात्मक और विधानात्मक शास्त्रों की रचना की। उनके 'चिन्तन' के फलस्वरूप होने के कारण, 'श्रुति' से पृथग्भूत इन सब विविध उपदेशात्मक ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'स्मृति' पड़ी। इस शब्द का मूल √स्मृ 'चिन्तायाम्' में समझना चाहिए, न कि स्मरणार्थक √स्मृ 'आध्याने' में, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है।

११. वेदाङ्ग—

वैदिक ऋषि-कुलों में मुख्यतः वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों का पठन-पाठन चलता था। उस अभ्यास-क्रम में दो बातें मुख्य होती थीं, उच्चारण, पाठ अथवा गान शुद्ध हो और पद-पदार्थ का ठीक बोध हो। साथ ही, व्यावहारिक दृष्टि से, शिष्यों को यह भी परिज्ञान कराना होता था कि वह-वह यज्ञ-कर्म किस-किस समय और किस-किस प्रकार करना-कराना चाहिए तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तरों पर आचरण कैसा-कैसा होना चाहिए। बड़े-बड़े ऋषि-कुलों ने इन विषयों के यथावत् अनुशासन के लिए, आधुनिक विश्वविद्यालयों की ही भाँति, अपने-अपने पाठ्य-ग्रन्थ बना कर चालू कर रखे थे। इन ग्रन्थों के अभ्यास द्वारा उपर्युक्त सभी अपेक्षित बातों का बोध हो जाता था। इसीलिए इन्हें 'लक्षण ग्रन्थ' या 'लक्षण शास्त्र' कहा जाता था। इन्हीं के द्वारा वेदों के बारे में सम्यक् 'लक्षण' अर्थात् 'दर्शन' लाभ हो सकता था। यही कारण था कि इन्हें वेदों के 'अङ्ग' अर्थात् 'बोधक' भी कहते थे। प्रकृत 'अङ्ग' शब्द √अङ्ग 'लक्षणे' से निष्पन्न कहना चाहिए। यह भाग-वाचक नहीं है, जैसा कि

साधारणतः समझ लिया जाता है। ये ग्रन्थ वैदिक विद्याओं के बोधक थे, वे वेदों के भाग नहीं थे।

इन वेदाङ्गीय ग्रन्थों द्वारा मुख्य रूप से छः विद्याओं का अभ्यास कराया जाता था। इन विद्याओं के नाम थे शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष। इन 'अङ्गों' अर्थात् विद्याओं के अभ्यास का इतिहास बहुत पुराना है। मुण्डकोपनिषद् (१,१,५) में तो इन्हें यही छः नाम ले कर इसी क्रम से परिगणित किया हो है, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और अन्य उपनिषदों में और भी ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जिन से इन विद्याओं का पर्याप्त व्यापक प्रचार सूचित होता है।

१२. शब्दशास्त्र और छन्दस्—

'शिक्षा-वेदाङ्ग' उच्चारण-शास्त्र का पर्याय है। यह शब्द √शास् से पाठ-विधि के अर्थ में निष्पन्न 'शिष्या' शब्द का रूपान्तर है। इस समय मुद्रित और अमुद्रित बहुत-सी शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमें से आपिशलि, नारदीय, पाणिनीय, भारद्वाज, माण्डूकी, याज्ञवल्क्य और शैशिरीय शिक्षाओं के संस्करण ही कुच्छ-कुच्छ व्यवस्थित पाठ देते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में उनकी अपनी-अपनी वेद-शाखा के उच्चारण, सन्धि, स्वर, पदपाठ आदि शिक्षा तथा व्याकरण, दोनों, वेदाङ्गों के क्षेत्रगत प्रकरणों का संमिश्रण पाया जाता है। इस समय ऋग्वेद का एक, सामवेद के तीन (ऋक्तन्त्र, पुष्पसूत्र, निदानसूत्र), तैत्तिरीय यजुर्वेद का एक, वाजसनेय-यजुर्वेद का एक और अथर्ववेद के (शौनक चतुरध्यायिका सहित) दो प्रातिशाख्य मिलते हैं। विशुद्ध और सम्पूर्ण वैदिक व्याकरण का प्राचीन ग्रंथ नहीं मिलता। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र मुख्यतः लौकिक संस्कृत के शिष्ट प्रयोग को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुआ था। उस दृष्टि की पुष्टि के उद्देश्य से ही उक्त प्रयोग से विलक्षण होते हुए भी प्रमाणभूत होने के कारण वैदिक प्रयोग का भी उस में 'व्यत्यय' का विषय कह कर समावेश किया गया था। ऐसा होते हुए भी, पाणिनि,

कात्यायन और पतञ्जलि द्वारा अनुशिष्ट 'त्रिमुनि व्याकरण' में ही अब वैदिक व्याकरण की सर्वाधिक सामग्री उपलब्ध होती है। इसी प्रकार यास्काचार्य का (निघण्टु-सहित) निरुक्त शास्त्र प्राचीन निर्वचन-सम्बन्धी वेदाङ्ग की अनुपम प्रतीक के रूप में उपलब्ध है। यास्क पाणिनि से पहिले हुआ प्रतीत होता है। उस से भी पूर्व अन्य अनेक आचार्य हुए थे जिन्हों ने शिक्षा, व्याकरण और निरुक्त के समुच्चय-स्वरूप शब्दशास्त्र की बहुमूल्य सूक्ष्म विवेचनाएँ की थीं, परन्तु उक्त उत्तरवर्ती आचार्यों ने उन के नाम आदर-पूर्वक ले-ले कर उन की बातों को अपनी रचनाओं में संकेतित कर दिया था। अतः, उन पूर्वयुगीय आचार्यों के ग्रन्थ तो लुप्त प्राय हो चुके हैं, हाँ, उन के पवित्र नाम अब भी चले आते हैं। पूर्वोक्त और अन्य अनेक प्राचीन भारतीय शब्द-शास्त्री आचार्यों की महार्घ देन के पुण्य प्रताप से भारत को विश्व भर की भाषाविज्ञानीय परिषदों में विशेष मान प्राप्त है। आधुनिक भाषाविज्ञान के विकास में भारत की इस देन का महत्त्व सर्वत्र मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया जाता है। वैदिक छन्दों का विशुद्ध वेदाङ्ग-ग्रन्थ नहीं मिलता। इस विषय की चर्चा, लौकिक छन्दों से मिली-जुली, पिङ्गल के छन्दःसूत्र में पाई जाती है। इस के अतिरिक्त ऋक्-सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता, अथर्ववेद-सर्वानुक्रमणी आदि अनुक्रमणी ग्रन्थों में भी ऋषिओं और देवताओं के साथ ही छन्दों की भी परिगणना की गई है। ऋक्प्रातिशाख्य, निदानसूत्र आदि प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी वैदिक छन्दों के बारे में प्रकरण पाए जाते हैं।

१३. कल्प—

वैदिक युग की धारणा के अनुसार मानव जीवन कर्म-प्रधान होना चाहिए। वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक स्तरों पर मानव का शास्त्रोक्त एवं लौकिक समुचित आचार-व्यवहारात्मक कर्म उस का धर्म कहलाता है। धर्मसूत्रों में इसी धर्म का प्रतिपादन किया गया है। ऋषिकुलों के अन्दर अपने-अपने आचार्यों के चलाए हुए धर्मसूत्रों का

पठन-पाठन चलता था। अध्यापक वर्ग इन्हीं के अनुसार आचरण करने का यत्न करते थे और उन के छात्र-गण भी इसी अंश में उनके अनुकरण का।

उस समय शिष्टाचार-रूपी धर्म-कर्म के अतिरिक्त मानवेतर दैवी और आसुरी शक्तिओं में विश्वास के आधार पर दैवी शक्तिओं का प्रसाद और आसुरी शक्तिओं का निग्रह सिद्ध करने में मानव की सहायता कर सकने वाला यज्ञादिक क्रियाओं के रूप में एक दूसरा अतिविस्तृत कर्म-कलाप भी प्रचलित था। इन कर्मों के अन्तर्गत दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम आदि बड़े-बड़े यज्ञों को श्रौत विधि के अनुसार वेदी की रचना के साथ, अग्न्याधान-पूर्वक पूर्व दिशा में आहवनीयाग्नि, पश्चिम दिशा में गार्हपत्याग्नि एवं दक्षिण दिशा में दक्षिणाग्नि, इन तीन अग्निओं की स्थापना कर के होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा, इन चार मुख्य ऋत्विजों और उन में से प्रत्येक के साथ जुड़े हुए कई-कई अन्य ऋत्विजों के सहयोग द्वारा सम्पन्न किया जाता था। इन यज्ञों को श्रौत कर्म कहते थे। श्रौत सूत्रों में इन्हीं का विधान किया गया है।

उक्त विश्वास पर आश्रित कर्म-काण्ड का दूसरा विभाग गृह्य कर्म कहलाता था। कारण, इन कर्मों को सम्पन्न करने के लिए घर से बाहिर विस्तृत वेदी की रचना और तीन अग्निओं की स्थापना की अपेक्षा नहीं रहती थी। घर के अन्दर ही सामान्य विधि से अग्नि जला कर उस में इन्हें सम्पन्न किया जाता था। इन के लिए अनेक पुरोहितों की भी आवश्यकता नहीं होती थी। इन गृह्य कर्मों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ ये पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन किये जाने वाले मुख्य कर्म थे। इनके अतिरिक्त गर्भाधान से ले कर मरणपर्यन्त के जीवन में ओत-प्रोत हो रहे षोडश संस्कार थे, जिन में मुण्डन, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि कर्म मुख्य थे। गृह-प्रवेश, भूमिकर्षण तथा सस्यवर्धन आदि अन्य भी सभी प्रकार के जीवन-व्यापारों के प्रारम्भ में विशेष गृह्य इष्टिओं अर्थात्

लघु यज्ञों को किया जाता था। यही सब गृह्य कर्म गृह्य सूत्रों में विहित हैं।

पूर्वोक्त श्रौत कर्मों, गृह्य कर्मों और धर्माचारों का सामान्य नाम 'कल्प' पड़ गया था। इसी कारण कल्पसूत्रों में सभी श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र सम्मिलित रहते थे। हो सकता है, प्रकृत 'कल्प' शब्द 'कर्म' शब्द का ही पर्यायभूत रूपान्तर हो। ऐसा होने पर, कल्प वेदाङ्ग का संज्ञाकरण सर्वथा अन्वर्थक हो जाएगा। कारण, इस में उक्त प्रकार से मानव द्वारा करने योग्य यज्ञात्मक और आचारात्मक उभयविध कल्पों अर्थात् कर्मों का विधान पाया जाता है।

इस समय इस वेदाङ्ग के अन्तर्गत लगभग २५ शाखाओं से संबन्धित ग्रंथ पर्याप्त संख्या में पाए जाते हैं। इन में श्रौतसूत्रों के अन्तर्गत आपस्तम्ब, आश्वलायन, काठक, कात्यायन, जैमिनीय, द्राह्यायण, बौधायन, मानव, लाट्यायन, वाधूल, वाराह, वैखानस, वैतान और हिरण्यकेशी मुख्य हैं। इन में से कई एक के परिशिष्ट के रूप में शुल्बसूत्र भी, जिन में भारतीय ज्यामितिशास्त्र का प्राचीनतम स्वरूप पाया जाता है, सम्मिलित हैं। गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत आग्निवेश्य, आपस्तम्ब, आश्वलायन, काठक, कौषीतकि, कौशिक, गोभिल, जैमिनीय, द्राह्यायण, पारस्कर, बौधायन, बैजवाप, भारद्वाज, मानव, वाराह, वैखानस और हिरण्यकेशी मुख्य हैं। धर्मसूत्रों के अन्तर्गत आपस्तम्ब, काश्यप, गौतम, विष्णु, वासिष्ठ, वैखानस, सुमन्तु और हिरण्यकेशी मुख्य हैं।

१४. ज्योतिष—

वैदिक साधक का पूर्वोक्त 'कल्प' द्वारा कल्पित लौकिक एवं पारलौकिक उद्देश्यों से चालू जीवन-क्रम अत्यन्त व्यवस्थित रहता था। प्रत्येक छोटी से छोटी विधि का भी अपना मुहूर्त अर्थात् युक्त समय निश्चित था। इसी कारण बहुत पहले से नक्षत्रों, ग्रहों और उपग्रहों की खगोल में प्रतिक्षण बदल जाने

वाली विभिन्न स्थितियों की ओर उस का ध्यान आकर्षित हो चुका था और वह जान गया था कि इन स्थिति-परिवर्तनों द्वारा काल-चक्र की अविच्छिन्न रूप से हो रही गति को क्योंकर मापा जा सकता है। साथ ही, उस का यह भी विश्वास था कि अमुक विशेष समय में किया जा कर ही अमुक विशेष यज्ञादि कर्म अभीष्ट फल प्रदान कर पाता है। स्वभावतः, उस ने नक्षत्र-विद्या में बड़ी अभिरुचिपूर्वक प्रगति की जिस के फल-स्वरूप प्राचीन भारत अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित विद्याओं और इन पर आधारित नक्षत्र-विद्या के विकास द्वारा आज से आठ-नौ सौ बरस पहिले तक संसार भर में प्रसिद्ध रहा। ये ही विद्याएँ ज्योतिष वेदाङ्ग का विषय हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत यह वेदाङ्ग बीज रूप से पाया जाता है। इस समय ऋग्वेद और यजुर्वेद के दो पृथक् 'वेदाङ्गज्योतिष' उपलब्ध हैं। 'आथर्वणज्योतिष' भी अलग मिलता है।

वेदाङ्ग-साहित्य प्रायः सूत्रों के रूप में रचा गया था। न्यूनतम पद-प्रयोग द्वारा एक-एक प्रतिपाद्य विधि आदि का प्रवचन करना इस रचना की विशेषता थी। सूत्र की लघुता के निमित्त जब एक अक्षर भी कम हो सकता था, तो, कहा जाता है, सूत्रकार को पुत्रजन्मोत्सव के समान प्रसन्नता होती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी में यह रचना, मानो, अपनी पराकाष्ठा तक जा पहुँची थी।

१५. अन्य शास्त्र—

पूर्वोक्त प्रकार से, वेदों के अध्ययन और अध्यापन की विशिष्ट वैज्ञानिक अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए उक्त छः अङ्गों अर्थात् विद्याओं का विकास हुआ और उन से सम्बन्धित ग्रंथों की रचना हुई। उसी स्रोत से प्रेरणा पा कर स्मृतिओं और धर्मशास्त्रों एवं रामायण, महाभारत तथा पुराणों के विशाल साहित्य का विस्तार हुआ। उधर की ही मौलिक प्रेरणाओं के परिणाम-स्वरूप पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय और

वैशेषिक सूत्रों की रचना हुई, जिन में प्राचीन भारत का वैदिक तत्त्व-ज्ञान निहित है। ये ही प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय वेदों के छः उपाङ्ग कहलाते हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद, गन्धर्ववेद, धनुर्वेद और अर्थवेद, इन चार विद्याओं की और आगे विवृद्धि हुई और इन्हें उपवेदों का नाम दिया गया। इन के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र और वास्तुशास्त्र आदि उत्तरोत्तर विकसित होती रहीं प्राचीन भारत की अन्य सभी विद्याएँ भी मूलतः पूर्वोपवर्णित वैदिक वाङ्मय पर ही आश्रित थीं। इन्हीं प्राग्भारतीय विद्याओं के अन्दर ही श्रामणिक अर्थात् बौद्ध और जैन शास्त्रों को भी सम्मिलित समझना चाहिए। कारण, इन की भी मौलिक प्रेरणाएँ, तत्त्वांश में, वैदिक प्रेरणाओं से अभिन्न हैं। अतः, वैदिक साहित्य-राशि को ही युग-युगान्तर से बहती चली आ रही भारत की शाश्वत वाङ्मयी गंगा की गंगोतरी कहना सर्वथा उचित होगा। यह तथ्य भारतीय जनता की भावनात्मक एकता के लिए अत्यन्त महत्त्व-युक्त है।

40554
21.7.72

लेखक की अन्य पुस्तकें

१. **वेदसार**—२२३ स्फूर्तिदायक वेदमन्त्र, हिन्दी अनुवाद सहित। सर्वसामान्य के लिए। मूल्य १.५०

शैक्षणिक संस्करण—इस उपयोगी भूमिका के अतिरिक्त २ परिशिष्टों सहित। जिनमें वैदिक व्याकरण, स्वर तथा छन्द के विषय में परिचय तथा मंत्रों में आए ५०० विशिष्ट पदों का कोष भी है। मू. ३.००

'वेदसार' केवल मूल मंत्र रूप में तथा केवल हिन्दी अर्थ के रूप में भी मिल सकता है। प्रत्येक का मूल्य १.००

२. **मानवता का मान** (दूसरा नया संस्करण)—गीता के १२वें अध्याय श्लोक (१३–१६) के सात श्लोकों के आधार पर लिखा हुआ सरल तथा मानवता के विकास का मार्ग-प्रदर्शक ग्रन्थरत्न। मू. २.००

—इस पुस्तक ने मेरे हृदय पर गहरा परिणाम किया है और सब देश-वासी इस ग्रन्थ के अमृत का आस्वाद कर श्रेष्ठ जीवन निर्माण करें—यह मेरी हार्दिक इच्छा है। —श्री मा. स. गोलवलकर (गुरु जी)

३. **सत्संगसार**—सांस्कृतिक निबन्धों का संग्रह। मू. १.३७

'लेख प्रेरणात्मक भाव-भूमि से निर्गत हुए हैं। भारतीय संस्कृति की उदात्त भूमिका इनमें पाई जाती है। —डा. वासुदेवशरण अग्रवाल

४. **सुखी संसार**—संसार कैसे सुखी हो सकता है? इस विषय पर उपनिषद् के आधार पर प्रकाश डाला गया है। — मै

५. लेखक द्वारा संपादित—

पंजाबी रामायण (भाषा पंजाबी दे

ले० श्री रामलभाया आ

Library IIAS, Shimla
H 891.201 V 823 V
00040554

मिलने का पता:—

विश्वेश्वरानन्द पुस्तक भण्डार,

डा. घ. साधु आश्रम, होशिआरपुर (पंजाब)

मुद्रक—श्री देवदत्त शास्त्री, विद्याभास्कर,
वी. वी. आर. आई. प्रैस, साधुआश्रम, होशिआरपुर।